6426

आ. कै. सं.
कोबा

नवम्बर १९९२
षोडश वर्ष : सप्तम अंक

तित्थयर

जैन भवन

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष १६ : अंक ७

नवम्बर १९९२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी-२५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७

सूची

विश्व-समस्या और व्रत-विचार १९५

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र २०८

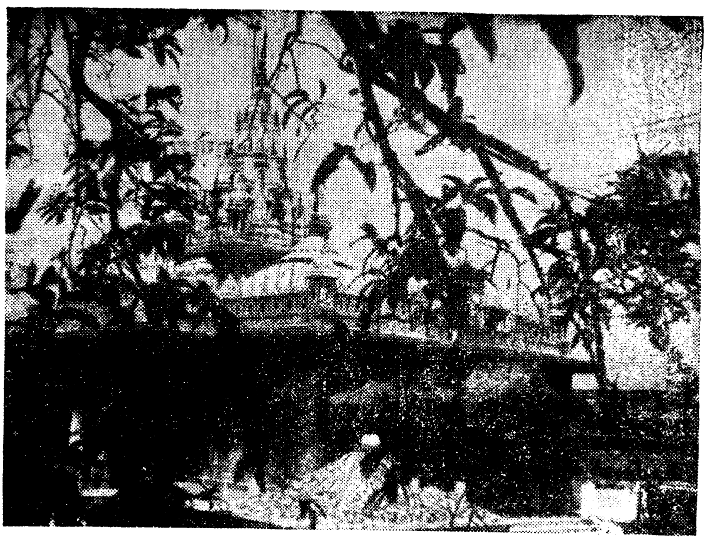

श्री शीतलनाथ मन्दिर, कलकत्ता

विश्व-समस्या और व्रत-विचार

स्व० डॉ० बेनीप्रसाद

धर्म की व्याख्या विविध प्रकार से की गई है, परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि व्यक्ति का समष्टि से तथा आधारभूत आध्यात्मिक तत्त्वों से मेल ही धर्म है। अतएव धर्म में एक ओर तो जीव और अजीव का और उनके परस्पर सम्बन्धों का विचार रहता है, और दूसरी ओर मनुष्य जिस रीति से अपने स्वरूप का बोध तथा अपनी अभिव्यक्ति करता है, उसका निरूपण रहता है। इस दूसरी विचार-दृष्टि से हम यह देखने का यत्न करेंगे कि धर्म में किन-किन सिद्धान्तों का समावेश है, जिन्हें समग्र मनुष्य-जाति अपने विस्तृत अनुभव से संसार के लिये कल्याणकारी मानने लगी है। दूसरे शब्दों में हम यह देखने का यत्न करेंगे कि धर्म में कहाँ तक सामाजिक न्याय, हित तथा सुख के तत्त्वों का समावेश है।

जैन आचार-नीति

इस सामाजिक विचार-दृष्टि से हम संक्षेप में जैन आचार शास्त्र का सिंहावलोकन करेंगे। संक्षेप में उसमें पाँच व्रतों, अणुव्रतों का विधान है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। इन अणुव्रतोंका मूल्य बढ़ानेवाले तीन गुणव्रत—दिग्विरति, भोगोपभोग परिमाण, अनर्थदण्डविरति, तथा चार शिक्षाव्रत—सामायिक, देशविरति, पौषधोपवास, तथा अतिथि संविभाग बताये गये हैं। एक दूसरी दृष्टि से धर्म-भाव के दस लक्षणों—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य पर बल दिया गया है। यदि हम यहाँ सभी व्रतों, अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा धर्म के दस लक्षणों की चर्चा करने लगेंगे तो लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा। अतएव हम यहाँ पर सामाजिक सम्बन्ध, वर्तन तथा संगठन की दृष्टि से जैन आचारशास्त्र के पाँच मुख्य व्रतों, अणुव्रतों की चर्चा करेंगे। हमारे प्राचीन मनीषियों की दृष्टि कितनी पैनी थी, इसका प्रमाण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि उन्होंने उच्च जीवन के लिये सबसे पहला तथा उत्कृष्ट सिद्धान्त अहिंसा माना है।

सामाजिक सम्बन्धों में हिंसा का स्थान

अभी मनुष्यों के परस्पर सम्बन्धों का नियमन, यदि सर्वांशतः नहीं तो अधिकांशतः पाशविक बल प्रयोग (हिंसा) से होता आया है, अर्थात् व्यक्ति, दल, वर्ग, राष्ट्र अथवा जातियाँ अपने श्रेष्ठ बल का प्रयोग करके ही दूसरे

का शोषण करती रहीं, उन्हें अपने अधीन रखती रहीं तथा अपने स्वार्थ-साधन के लिये उनका उपयोग करती रहीं है। फलतः व्यक्ति के व्यक्तित्व का, मनुष्य की मर्यादा का कोई मूल्य नहीं रह गया है। दूसरी ओर जिन पर बल प्रयोग हुआ है, उन्होंने धूर्तता अथवा छल-कपट का आश्रय लिया है। इस प्रकार बल प्रयोग और छल-कपट एक-दूसरे के पूरक हो गये हैं। सामाजिक सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर ये दोनों एक ही व्यापार के दो रूप प्रकट होते हैं। छल-कपट का आश्रय शोषित ही नहीं लेते हैं, शोषक भी अपने प्रभुत्व तथा शोषण का चक्र पूरा करने में, जहाँ बल प्रयोग से त्रुटि रह जाती है, वहाँ छल-कपट का आश्रय लेते हैं। दासता का व्यक्तित्व की मूल प्रेरणा, स्वाधीनता से विरोध है, जिसकी ग्राहम वेलेस ने बड़ी ही सुन्दर व्याख्या यह कह कर की है—कि सम्पूर्ण उन्नति के पथ पर सदा अग्रसर रहने, उत्तिष्ठ बनने की सतत् भीतरी प्रेरणा, एक शब्द में स्वानुभूति ही स्वाधीनता है। अतः दासता प्रतिरोध को जन्म देती है। प्रभुगण प्रतिरोध की चूल ढीली करके तथा प्रचार द्वारा जीवन का मान गिरा कर, तथा भय, लोभ, जड़ता, स्वार्थपरता आदि अधोमुखी प्रवृत्तियों को उभाड़कर स्थिति की स्वीकृति कराने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार आज के सामाजिक सम्बन्धों के मूल में बल प्रयोग तथा छल-कपट व्याप्त है, जिससे आधुनिक समाजशास्त्री यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये ही सभ्यता के मूलाधार है।

आधुनिक युग की मूल समस्या

यह आक्षेप सत्य है, विशेष रूप से आधुनिक युग के लिये और अधिक सत्य है, जिसमें पिछले सौ वर्षों में दूरी का अन्त हो गया है, तथा भिन्न-भिन्न जातियाँ, संस्कृतियाँ तथा विचार दृष्टियाँ एक-दूसरे के निकट आ गई हैं, ऐसी अवस्था में नई व्यवस्था के लिये प्रयत्न होना अनिवार्य था, परन्तु इन प्रयत्नों के पीछे प्रायः वर्ग विशेष का प्रभुत्व स्थापित करने की भावना प्रधान रही है, जिसके कारण प्रसिद्ध वैज्ञानिक और समाजशास्त्री बर्ट्रंड रसेल को कहना पड़ा है कि बल प्रयोग राजनीति का मूलाधार है, जिस प्रकार शक्ति भौतिक विज्ञान का मूलाधार है। पिछले दो सौ वर्षों के इतिहास में विज्ञान की प्रगति सबसे प्रधान रही है। उसने उत्पादन तथा संगठन के नये यंत्र प्रदान किये हैं, जिससे संसार के सभी नर-नारियों के लिये आनन्द तथा सुख, संस्कृति तथा ज्ञान, और शांति तथा सुरक्षाके साधन सुलभ हो गये हैं। परन्तु अभी तक कुछ ही देशों में, और वहाँ भी कुछ ही वर्गों को ये साधन सुलभ हो सके हैं। सो भी बीच-बीच में युद्ध का व्यवधान पड़ता रहा है। इसका कारण

गूढ़ नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि नये साधनों पर संघर्ष, घृणा, शोषण तथा पराजय की पुरातन भावनाओं से ओत-प्रोत जातियों, राष्ट्रों, वर्गों तथा सम्प्रदायों ने कब्जा कर लिया है। अतः आज हम यह विरोधाभास देखते हैं कि वस्तुओं की बहुलता होते हुये भी मनुष्य गरीब है और आत्मप्रकाश के अनेक साधन होते हुये भी वह अन्धकार से घिरा है।

स्वप्न भंग

यह समस्या सारे संसार के सामने उपस्थित है, और इसके हल के लिए दार्शनिकों तथा राजनीतिज्ञों ने विविध योजनायें प्रस्तुत की हैं। आज से २५ वर्ष पहले, जब पिछले महायुद्ध (१९१४-१८) का अंत हुआ था, उस समय संसार के विचारशील पुरुषों का ध्यान लोकतन्त्रवाद, आत्मनिर्णय, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग तथा न्याय, निरस्त्रीकरण तथा स्थायी शान्ति की स्थापना करने के उपाय खोज निकालने की ओर प्रवृत्त हुआ था। उस समय की युग-भावना ने जैसे अमेरिका के प्रेसिडेंट वुडरो विलसन में अपनी वाणी पा ली थी, जिनकी आदर्शवादिता तथा वाग्मिता ने पूर्व तथा पश्चिम के लोगों को समान रूप से आकर्षित किया था। परन्तु २० ही वर्षों के भीतर सारे स्वप्न खण्डित हो गये और वर्त्तमान युद्ध का श्रीगणेश हुआ। स्वप्न-भंग का प्रधान कारण हमारी यह गलती है, जो राजनीति में बहुधा होती है कि हम राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र के रोगों के मूल कारणों का उपचार न करके, उनके लक्षणों का उपचार करने की चेष्टा करते हैं। राजनीति तथा कूटनीति का वातावरण हमेशा जल्दबाजी तथा अशांति का रहता है। राजनीतिज्ञ बहुधा सतह की चीजों का निरीक्षण करके तथा ऊपरी शिकायतों का उपचार करके संतुष्ट हो जाते हैं। यही १९१८-२० के संसार में घटित हुआ। फलतः पुरानी बीमारियाँ उभड़ आईं, अथवा जारी रहीं—शस्त्रीकरण में प्रतिद्वन्द्वता चलती रही, गुप्त कूटनीति कायम रही, तथा उग्र राष्ट्रीयता, साम्राज्यवादिता, सबलों द्वारा निर्बलों का शोषण, जातिगत अहंकार तथा युद्धों का बोलबाला रहा। स्वप्न भंग का एक दुःखद परिणाम यहाँ विशेष रीति से उल्लेखनीय है। इधर निराशाओं ने मनुष्य में सभी बातों का उपहास उड़ाने तथा उनमें दोष निकालने की एक विशेष प्रवृत्ति को जन्म दिया है, जबकि इस समय उदात्त विचारों तथा अदम्य उत्साह की पहले से भी अधिक आवश्यकता है। पश्चिमी राजनीति मौलिक पुनर्निर्माण से भय खाती है। मालूम पड़ता है कि उसने भविष्य के बारे में विश्वास खो दिया है।

युद्ध : वर्त्तमान समाज-व्यवस्था का एक अंग

अतः इस समय यह निर्देश कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि युद्ध, शस्त्रीकरण तथा कुटिल कूटनीति—ये सब विच्छिन्न व्यापार नहीं हैं। इनके तात्कालिक कारणों पर दृष्टिपात न करें तो भी कहना पड़ेगा कि ये अपने दावों को स्वीकार करवाने तथा झगड़ों का निपटारा करने के उपाय बन गये हैं; संक्षेप में ये ऐसी समाज-व्यवस्था में सर्वथा स्वाभाविक है, जिसमें हिंसा उपादेय मानी जाती हैं तथा एक वर्ग दूसरे वर्ग पर बलप्रयोग करके उसका शोषण करता है। झगड़ों का निपटारा बलप्रयोग द्वारा इसी कारण किया जाता है कि हमारा सामाजिक जीवन भी घृणा, नैराश्य तथा शोषण से ओत-प्रोत है। ये भावनायें अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में, आन्तरिक संगठन में तथा जीवन-दृष्टिकोण में व्याप्त हैं। सामाजिक जीवन में भी अभी बलप्रयोग तथा छल-कपट का बोल-बाला है, अतः सुधार मूल से आरम्भ होना चाहिये। संसार को यह समझाने के लिये बहुत अधिक बौद्धिक तथा नैतिक प्रयत्न की आवश्यकता है कि वर्त्तमान संघर्षों का अंत करने तथा विश्वशांति की स्थापना करने का एकमात्र उपाय यह है कि हिंसा (बलप्रयोग) के बजाय अहिंसा की नींव पर सामाजिक संबंधों का संशोधन हो।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अनुभव

१९१९ में स्थापित राष्ट्र संघ तथा निरस्त्रीकरण कमीशनों तथा सम्मेलनों के अनुभव से, जो १९३४ तक होते रहे, विदित होता है कि युद्ध का निराकरण, जो रोग का लक्षण है, मूलगत कारण, हिंसा के निराकरण से ही हो सकता है, जो सारे वर्गों में व्याप्त है। अहिंसा के ऊँचे तल पर आने का अर्थ होगा कि राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के प्रभुत्व के विचार को तिलांजलि देनी होगी, तथा यूरोप अथवा अमेरिका, एशिया अथवा अफ्रीका की सभी जातियों की अबाध उन्नति तथा उन्हें समान अवसर प्रदान करने के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप में स्वीकार करना होगा।

आंतरिक व्यवस्था में अहिंसा

इस प्रकार न केवल अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में, बल्कि आंतरिक व्यवस्था में भी एक नये अध्याय का सूत्रपात होगा। यह बात किसी स्थूलद्रष्टा को भी प्रकट होगी कि अधिकांश देशों की आंतरिक आर्थिक व्यवस्था अधिकांश जन-वर्ग को समान रूप से सुविधायें न प्रदान करने पर अवलम्बित है। विश्लेषण करने पर प्रकट होता है कि हमारी जाति व्यवस्था तथा वर्ग व्यवस्था कुछ लो

बल प्रयोग और कुछ परम्परा तथा प्रकृति पर निर्भर करती है। प्राचीन समय में वस्तुओं की कमी के कारण इस व्यवस्था के पक्ष में जो भी तर्क किये जा सकते थे, वे आधुनिक युग में वस्तुओं की बहुलता की सम्भावना हो जाने से खण्डित हो जाते हैं। अब नये सूत्रों पर मानवीय सम्बन्धों की रचना करने का मार्ग प्रशस्त हो गया है। अहिंसा के सिद्धान्त का वस्तुतः यही अर्थ है कि प्रत्येक नर-नारी के हित-साधन का समान विचार रखा जाय तथा अधिक से अधिक मात्रा में कारगत रूप में आत्मानुभूति के अवसर प्रदान किये जाँय।

अहिंसा का विधेयात्मक रूप

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि अहिंसा का सिद्धान्त, जैसा कि नाम से इंगित होता है, कोई निषेधात्मक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि एक क्रांति-कारी विधेयात्मक सिद्धान्त है। यह राष्ट्रों की आंतरिक शासन-प्रणाली में आमूल परिवर्तन तथा सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं में संशोधन की ओर संकेत करता है। इस सिद्धान्त की दृष्टि से संस्थाओं का पुनर्संगठन जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही महत्वपूर्ण दृष्टिकोण में परिवर्तन है। संक्षेप में संपूर्ण जीवन दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता है। जैसा कि अफलातून और अरस्तू का कहना है, प्रत्येक प्रकार की संस्था के तदनुकूल आचार-नीति का होना आवश्यक है। यदि अनुकूल आचार-नीति का प्रादुर्भाव नहीं होता है तो संस्थाओं का पुनर्संगठन शक्तिहीन हो जाता है, वे यंत्रवत् बन जाती हैं, और कुछ समय पश्चात् या तो प्रभावहीन या विकृत हो जाती हैं। अतएव अहिंसा का सिद्धान्त जीवन-पथ के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। यहाँ पर एक भ्रम से सावधान कर देना उचित होगा।

उपरोक्त कथनों का यह अर्थ नहीं है कि मानव-संबन्ध एक मात्र बल प्रयोग (हिंसा) पर आधारित है। इस प्रकार का वातावरण समाज में सह्य नहीं हो सकता। पारिवारिक, कौटुम्बिक और जातीय जीवन के निर्माण में बहुत मात्रा में सहानुभूति, परस्पर सहायता, स्नेह, त्याग और एकनिष्ठा की भावनाओं का भी हाथ रहता है। कहने का तात्पर्य यही है कि ये भावनाएँ पर्याप्त मात्रा में विद्यमान नहीं हैं, हिंसा का प्राबल्य है, और उसका पूर्णरूपेण निराकरण कर देने पर ही सामाजिक गुणों के अंकुर पनप सकते हैं। दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिये कि वैयक्तिक जीवन की आचार-नीति और सामाजिक वातावरण का निकट संबन्ध है। व्यक्तित्व का निर्माण समाज में होता है, दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व समाज की उपज है। उसका सामाजिक

व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनुभवों से प्रकट होता है कि जातीय जीवन में नैतिकता लाने के लिए केवल उपदेश और विनती काफी नहीं होती। बीज के पनपने के लिए अनुकूल खाद तथा मौसम अर्थात् वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार समस्त संसार में जीवन में वास्तविक रूप से अहिंसा का समावेश तभी हो सकता है, जब सामाजिक संगठन तथा व्यवहार अहिंसा पर आधारित होगा। अतः अहिंसा के सिद्धान्त का वस्तुतः यह अर्थ है कि समस्त जीवन बलप्रयोग (हिंसा) के स्तर से ऊँचा उठाकर विवेक, अनुनय, सहनशीलता तथा पारस्परिक सेवा के स्तर पर प्रतिष्ठित किया जाय।

सत्य

यह तो सभी को प्रकट होगा कि अहिंसा का सत्य से निकट सम्बंध है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अधिकारियों द्वारा बलप्रयोग किये जाने पर पराधीन छल-कपट का आश्रय लेते हैं। हम यह भी कह चुके हैं कि मात्र बल-प्रयोग से बहुधा उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती, और छल-कपट अथवा धूर्त्तता से सहायता लेने की भी आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण कहा गया है कि युद्ध में सभी बातें न्यायसंगत होती हैं। वस्तुतः युद्ध में सभी प्रकार की धूर्त्तता चलती है। आधुनिक काल में युद्ध समग्र शक्तियों से चलाया जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण बौद्धिक, नैतिक तथा भौतिक साधनों से चलाया जाता है। आपाततः मालूम पड़ता है कि शस्त्रास्त्रों के बल के सामने जनमत दब जाता है, परन्तु आधुनिक युद्ध के समग्र रूप ने जन-सहयोग का महत्व बढ़ा दिया है, और इसलिए वर्त्तमान काल में सरकारें मनोवैज्ञानिक प्रचार (प्रोपेगैंडा) द्वारा जनमत की स्वीकृति प्राप्त करने के लिये इतना विशाल संगठन करती है। अतः यह ठीक ही कहा जाता है कि युद्ध में सबसे पहले सत्य की हत्या होती है। १९वीं शताब्दी की सबसे ठोस देन अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा मानी जाती है। परन्तु प्रोपेगडा ने इसका महत्व शून्य कर दिया है, जो आज सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त है, तथा जल, थल या आकाश में रेडियो का बटन दबाकर सुना जा सकता है। राष्ट्रों की घरेलू राजनीति का वातावरण भी कुछ विशेष अच्छा नहीं रहता। यह सर्वविदित है कि चुनावों में सत्य की विशेष परवा नहीं की जाती है, और कचहरियों तथा नौकरियों में तो सत्य की सबसे अधिक हत्या होती है।

अतः यही कहना पड़ता है कि सत्य का मार्ग उतना ही पैना है, जितना अहिंसा का। कहावत है 'सत्यमेव जयते'। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि सत्य की अंत में विजय होती है तो ठीक है। परंतु यह कहना भ्रमकारी

होगा कि सफलता का सरल मार्ग मन, वचन, कर्म से सत्य का पालन करना है। आज सत्य का मार्ग कांटों से घिरा है। वह विरोध, उत्पीड़न तथा कष्ट-सहन से परिपूर्ण है। इस पथ पर चलने में साहस, धैर्य तथा सहनशीलता की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः मिथ्या का बलप्रयोग (हिंसा) से घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उसके साथ ही इसका भी अंत किया जा सकेगा। आज मनुष्य के लिये निजी जीवन में सदा सत्य बोलना चाहे सम्भव हो परंतु समस्या इतने से ही तो हल नहीं हो सकती। इस समस्या के वस्तुतः दो रूप हैं। एक तो, कैसे औसत व्यक्ति के लिये सत्यवादिता सम्भव बनाई जाय ; तथा दूसरे, कैसे संघों, राजनीतिक दलों और सरकारों के लिये भी सम्भव बनाया जाय कि वे भी सत्य का उतनी ही मात्रा में पालन कर सकें, जितनी मात्रा में निजी जीवन में किया जा सकता है। सामाजिक हित की दृष्टि से ऐसे वातावरण का निर्माण आवश्यक है, जिसमें सत्य अंततोगत्वा ही नहीं, बल्कि तात्कालिक रूप में भी लाभदायी सिद्ध हो। यहाँ फिर हमें कहना पड़ता है कि जीवन अखंड है, उसके विविध अंग परस्पर निर्भर हैं, और हम घूम-फिर कर फिर एक ही बात पर आते हैं। जीवन के दुश्चक्र को तोड़ने के लिये, उस पर सभी ओर से प्रहार आवश्यक हैं। यह सब मानते हैं कि राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में समान रूप से सत्य का ऊँचा आदर्श स्थापित करने की आवश्यकता है। सत्य का आदर्श जितना ही ऊंचा होगा उतना ही समाज को वर्त्तमान दुश्चक्र से निकाल कर, विवेक तथा नैतिकता के ऊंचे स्तर पर स्थापित किया जा सकेगा।

अचौर्य

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के सामाजिक पुनर्संगठन में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के अधिकारों का समुचित आदर करेगा। तीसरे अणुव्रत, अचौर्य अथवा अस्तेय का यही मूलाधार है। इसका शब्दार्थ तो इतना ही है कि चोरी नहीं करनी चाहिये, परन्तु इसका मार्मिक अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के अधिकारों पर आघात नहीं करना चाहिये। यहाँ पर स्वत्व की तात्त्विक चर्चा अनावश्यक है, इतना ही संकेत कर देना अलम् होगा कि व्यक्तित्व के विकास के लिये जो भी सामाजिक परिस्थितियां अनिवार्य या अनुकूल हों, वे ही स्वत्व हैं। स्वत्वों अर्थात् सामाजिक जीवन के अनुकूल अवस्थाओं का उपभोग सभी करते हैं। उनका उपभोग संयुक्त रूप में किया जाता है। स्वत्व पूर्णतया वैयक्तिक नहीं हो सकते, वे सामाजिक होते हैं। उनका प्रादुर्भाव सहकारिता से होता है, और सहकारिता पर ही वे टिके रहते

है। यदि सभी के लिये उत्तम जीवन की अवस्थायें बनाये रखना है तो सिर्फ अपने ही लिये, उनकी आशा नहीं करनी चाहिये परंतु प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार कर्म करना चाहिये कि दूसरे के उपभोग में बाधा न पड़े। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार कर्म करना चाहिये कि दूसरे को इस दिशा में प्रेरणा मिले। जो अपने लिये स्वत्व है, वही दूसरे के प्रति कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्वत्व और कर्त्तव्य परस्पर सापेक्ष हैं। वे एक ही वस्तु के दो रूप हैं। यदि अपनी दृष्टि से उन पर विचार करें तो वे स्वत्व हैं। परंतु यदि उन्हें ही दूसरे की दृष्टि से देखें तो वे कर्त्तव्य हैं। दोनों ही सामाजिक है और सार रूप में उत्तम जीवन बिताने की अवस्थायें है जो सभी के लिये हैं। यह विवाद निष्फल है कि स्वत्व कर्त्तव्य से पहले आते हैं या बाद में। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वत्वों के लिये आग्रह करने लगे और दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों की अवहेलना करने लगे तो स्वत्व रह ही नहीं जायेंगे। यह सामाजिक जीवन की मूल शिक्षा है, जिसे सबको नये सिरे से ग्रहण करना चाहिये।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे के अधिकारों का सम्मान करना भी अहिंसा का ही सक्रिय रूप है।

ब्रह्मचर्य

दूसरे के अधिकारों का सम्मान और कर्त्तव्यों का पालन अधिक समय तक ऊपर से दबाव डाल कर नहीं कराया जा सकता। वास्तव मे नैतिक आचरण का बलपूर्वक पालन करवाना ही एक विरोधसंगत बात है। नैतिक आचरण के लिये अनुकल अवस्थाओं का संयोजन कर के अपरोक्ष रीति से नैतिकता का पालन कराना सम्भव है। हम अभी देख चुके हैं कि अहिंसा का पालन ऐसे ही वातावरण में हो सकता है, जो हिंसा की गंध से मुक्त हो। परंतु आचार-नीति का पालन ऊपरी दबाव से नहीं कराया जा सकता। वह भीतर की प्रेरणा से ही हो सकता है। विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि सामाजिक जीवन अंततोगत्वा आत्मसंयम पर निर्भर है। यही चौथे अणुव्रत, ब्रह्मचर्य का मर्म है।

चारित्र-निर्माण

मानव स्वभाव न तो अच्छा होता है, न बुरा। वह तो कच्ची गीली मिट्टी के समान है, जिससे चाहे जिस रूप में चारित्र निर्माण कर लो। वातावरण से पूर्ण समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से समस्थिति की लब्धि ही विकास है। इसका मंतव्य यह है कि सभी प्रवृत्तियों को कम या अधिक मात्रा में एक ही उद्देश्य से, अर्थात् बुद्धि तथा हृदय के मेल से निर्मित नैतिक भावना से एकाग्र करना चाहिये। इसका एक दूसरा मंतव्य यह है कि सभी प्रवृतियों

में सामंजस्य रहना चाहिये। इस प्रकार समस्थिति तथा प्रवृत्तियों को एकाग्र करने से निश्चित दिशा में उद्यम करने की रुझान पैदा होती है, जिसे 'इच्छा' कह सकते हैं। विविध इच्छाओं के संयोग को ही 'इच्छाशक्ति' कहते हैं। अब तक चारित्र की सर्वोत्तम परिभाषा 'संपूर्ण सुसंस्कृत इच्छाशक्ति' ही ठहरती है। चारित्र का मूलाधार आत्माभिव्यक्ति नहीं है, जैसा कि कुछ तथाकथित मनोवैज्ञानिकों ने रूढ़िगत दमन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कहा है। आत्माभिव्यक्ति अशासन के निकट भी पहुँच सकती है, जो सभी सामाजिक मानों तथा सुखों का अंत करने वाला है। व्यक्तित्व के लाभ के लिये आत्माभिव्यक्ति सोद्देश्य, समन्वयशील तथा सहिष्णुता पर आधारित होनी चाहिये, जिसे परोपकारिता, त्याग, सेवा आदि विविध नामों से पुकारा गया है, और जो व्यक्तित्व का चरम विकास है। इसीलिये कहते हैं कि संयम की, आत्मसंयम की आवश्यकता है, जो बाहरी दबाव से बिलकुल भिन्न वस्तु है। बाहरी दबाव दमन तथा नैराश्य को जन्म देता है। संयम आत्मा को सौन्दर्यशील तथा विकासोन्मुख बनाता है, जिस प्रकार पौधे को काटते-छांटते रहने से वह अधिक सुन्दर रूप में पल्लवित—पुष्पित होता है।

परिष्करण

यदि मनुष्य अपनी नाना प्रवृत्तियों तथा बाह्य उत्तेजनाओं के प्रवाह में अपने को निर्बाध छोड़ दे तो वह जीवन की परस्पर विरोधी, क्षुद्र तथा निरर्थक बातों में अपने को फँसा देगा, वह जीवन के मूल स्रोत को स्पर्श भी न कर सकेगा, और शीघ्र ही एक व्यर्थता की भावना उसमें घर कर लेगी। उसे अन्य दिशाओं के साथ, आत्मसंयम की दिशा में भी अपना विकास करना चाहिये। उसे अनिष्टकारी विषयों का त्याग तथा इष्ट विषयों का चुनाव करना चाहिये, तथा चुनाव करने की आदत डालनी चाहिये। उसे अपनी रति त्याज्य विषयों से हटाकर, स्वीकृत विषयों में लगानी चाहिये। इस प्रकार विविध प्रलोभनों को अस्वीकार करते हुए उसमें जो कर्म शक्ति अनुप्रेरित होती है, वह ग्राह्य विषयों की ओर प्रवाहित होती है। उसके भीतर जो नाना लालसायें तरंगित होती रहती हैं, जिनका वह अनुसरण नहीं करता, वे रूप बदल कर उसकी इष्ट मनोकामनाओं से एकाएक हो जाती है, और संतोष लाभ करती हैं। यह परिष्करण बालक जैसे ही सामाजिक आचारनीति हृदयंगम कर लेता है, आरम्भ हो जाता है। शक्तिवृद्धि, तथा लालसाओं की वृद्धि और उसी की तुलना में नैतिक भावना तथा आत्मसंयम की वृद्धि के साथ

साथ परिष्करण की वृत्ति भी बढ़ती जाती है। परिष्करण दमन की ठीक उलटी वृत्ति है। यदि वासनाओं तथा लालसाओं का नियंत्रण न किया जाय तो वे मनुष्य की शक्ति विविध दिशाओं में बिखेर देती है, उसका विकास रुक जाता है, और उसका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। यदि वे शासित की जाती है तो भीतर गुत्थियाँ पैदा करती हैं, मानसिक संघर्ष को जन्म देती हैं, तथा स्वप्न, चिन्ता तथा विकृतियों के रूप में प्रकट होती है। परिष्करण व्यक्तित्व को अखंड रखते हुए, आत्मसंयम का राजमार्ग है। सभी व्यक्ति न्यूनाधिक मात्रा में अपना परिष्करण करते हैं, परन्तु उच्च विचारों तथा आदर्शों के बल के बिना, अथवा ऊँचे लक्ष्य तथा जीवन की प्रेरणा के बिना यह अपूर्ण रहता है। परिष्करण शक्तिवृद्धि तथा नैतिक भावनाओं और महत्वाकांक्षाओंकी वृद्धि को संतुलित रखता है, वह व्यक्तित्व के समग्र विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। वह भीतर तनाव नहीं आने देता, और भले तथा बुरे के विवेक के सुचारु विकास में सहायता देता है। वह आदर्शों को समुज्ज्वल बनाता है तथा जातीय जीवन में उत्साह पूर्वक भाग लेने को प्रेरित करता है। वह व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी निर्माण में सहायता देता है, जिस पर समस्त सामाजिक आचार-नीति निर्भर करती है। इसके बिना मनुष्य ज्ञान, साधना तथा पूत आदर्शों की उस ऊँची भूमिका पर कभी न पहुँच पाता, जिस पर वह पहुँच सकने की क्षमता रखता है। परिष्करण आंतरिक विकास की एक सीढ़ी है, क्योंकि वह जीवन का नैतिक मान ऊँचा करता है, और अर्द्धचेतन तथा अचेतन मन की अधोमुखी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखता है। (जैसा कि कहा जाता है, यद्यपि यह पूर्णतः सत्य नहीं है)। वह मन के चेतन तथा सुषुप्त भागों में सहयोग बनाये रखता है, जीवन की एकता स्थिर रखता है, तथा विविध प्रवृत्तियाँ, भावनाओं तथा आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करता है। विरोधी प्रवृत्तियों के निराकरण अथवा रूप-परिवर्त्तन से व्यक्तित्व अखंड बना रहता है, और उसका अबाध तथा सुचारु रीति से विकास होता रहता है। परिष्करण के फल स्वरूप व्यक्तित्व ऊँचे नैतिक स्तर पर उठ जाता है तथा बाहर और भीतर में संघर्ष नहीं होने पाता। वह सुख प्राप्ति का साधन है, क्योंकि वह विविध दिशाओं में सामंजस्य रखते हुए व्यक्तित्व का विकास सम्भव बनाता है। दुःख —परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों तथा भावनाओं के संघर्षों का ही परिणाम है।

संयम

परिष्करण संयम की ही कोटि की प्रक्रिया है, जिससे शक्तियां संगठित होती है तथा सामाजिक लक्ष्यों की ओर प्रवाहित होती है। हम यह देख चके

हैं कि संयम का पालन अंतर से होता है, वह बाहरी दबाव की वस्तु नहीं है। संयम का पाठ पढ़ाया नहीं जाता, बल्कि वह जब मनुष्य अपना तथा समाज का लाभ समझ जाता है तथा उसका अनुसरण करने लगता है तो अन्दर से उत्पन्न होता है। संयम एक विधेयात्मक शक्ति है, निषेधात्मक नियंत्रण नहीं है। इससे अंतर की शक्तियां सुनिश्चित मार्गों में प्रवाहित होती हैं, जीवन व्यवस्थित बनता है और उत्तरदायित्व की भावना पैदा होती है। यह मन को समाजोन्मुख भी करता है तथा व्यक्तित्व को विशेषत्व भी प्रदान करता है। संयम में विवेक का भी समावेश है। वह सूचित करता है कि मनुष्य अपने विविध कार्यों का अर्थ, अपनी नाना प्रवृत्तियों में चुनाव तथा इष्टलक्ष्य और प्राप्य साधनों में सामंजस्य करना भलीभांति जानता है। संयम बुद्धि तथा नीति के सम्मिश्रण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। सामाजिक लक्ष्यों, संगठनों तथा अवस्थाओं का मर्म इस प्रकार हृदयंगम होना चाहिये कि वह अपनी जीवनचर्या में प्रतिबिम्बित हो। संयमी पुरुष जिस ऊँचे स्तर पर पहुँच चुका होता है, उससे वह स्वयं उदाहरण बन कर दूसरों को भी उस स्तर पर पहुँचने की सतत प्रेरणा दिया करता है, तथा समाज के नैतिक जीवन में निरंतर योग देता रहता है।

आत्मसंयम

सामाजिक व्यवहार में इस प्रकार के संयम को आत्मसंयम कहना ठीक होगा। आत्मसंयम सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन के ऊँचे नैतिक स्तर का शिलाधार है। आत्मसंयम के अभाव में प्रथाओं या कानूनों का कोई वस नहीं चलता। सौभाग्य से प्रत्येक समाज में कुछ मात्रा में आत्मसंयम वर्त्तमान है। परन्तु उसे विकसित करना तथा प्रबुद्ध बनाना आवश्यक है, जिससे वह विश्वकल्याणकारी आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार बन सके तथा उसके लिये आवश्यक प्रेरणा दे सके।

अपरिग्रह

संयम की शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम अपरिग्रह है। यह जैनधर्म का एक मौलिक सिद्धांत है। सांसारिक सुखों का स्वेच्छा से त्याग, वासनाओं से विरक्ति, आडम्बरों से निर्लिप्ति तथा वस्तुओं के संग्रह का मोहत्याग—यही अपरिग्रह के लक्षण हैं। अपरिग्रह का मंतव्य समझाते हुये नीतिकारों ने कहा है कि मनुष्य को अपनी भौतिक सम्पत्ति से मोह नहीं रखना चाहिये तथा प्रलोभनों से सदा बचना चाहिये। वह अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये

सम्पत्ति तथा वस्तुयें रख सकता है, परन्तु उसे अर्थप्राप्ति में अपने को भुला नहीं देना चाहिये। उसे राग, द्वेष, क्रोध, मान, लोभ, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का त्याग करना चाहिये।

यदि इस अणुव्रत का पालन किया जाय, तो इससे धन तथा साम्राज्य के लिये उस क्रूर तथा प्रचंड प्रतिद्वन्द्विता का अन्त हो जायगा, जो आधुनिक युग का शाप है तथा सभी दुखों की जननी है। आज अपरिग्रह की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। यह सर्वभक्षी भौतिकवाद का परिहार करनेवाली है। विज्ञान ने वस्तुओं का उत्पादन कई गुना कर दिया है तथा जहाँ-तहाँ अनावश्यक वस्तुओं का ढेर लगा दिया है। आधुनिक उद्योग-धंधों ने तथा व्यवसाय ने बड़े-बड़े नगरों के विकास में योग दिया है, जहाँ जीवन बड़ी जल्दबाजी में तथा एक कृत्रिम वातावरण में बीतता है। मनुष्य एक अबूझ दुश्चक्र में फँस जाता है। वह मानसिक व्याधियों, तथा आंशिक अथवा पूर्णरूप से शिरा-भंग (मानसिक थकावट का रोग) का शिकार बनता है, जो आधुनिक युग का सबसे दुखद पहलू है। जीवन-संग्राम अथवा यों कहिये कि ऊँचे जीवन का संग्राम इतना विकट हो गया है कि वह अपरिग्रह के अस्त्र से ही लड़ा जा सकता है। एक दूसरे दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि यह अणुव्रत सम्यक् विवेक तथा वस्तुओं के समुचित मूल्यांकन की शिक्षा देता है।

व्रतों की अखण्डता

अणुव्रतों के उक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि वे परस्पर सापेक्ष तथा एक दूसरे के पूरक हैं। एक व्रत का पालन न्यायतः दूसरे व्रत की ओर ले जाता है, और वस्तुतः वह अन्य व्रतों के पालन के बिना व्यर्थ सिद्ध होगा। इन में केवल अहिंसा व्रत को ही सबसे प्रथम स्थान देना होगा। यह व्रत उच्च आध्यात्मिक जीवन का शिलाधार है। जैन तथा बौद्ध धर्म में अहिंसा का अर्थ केवल दया ही नहीं है, बल्कि प्राणीमात्र से मैत्रीभाव है। अहिंसा का सिद्धान्त स्वतः पूर्ण है। यह इस बात का एक और प्रमाण है कि आचारयुक्त जीवन मानसिक दृष्टिकोण का परिणाम होता है। अहिंसा की ही भाँति अस्तेय तथा अपरिग्रह भी ऊपर से निषेधात्मक सिद्धान्त विदित होते हैं, पर व्यवहार में वे विधेयात्मक सिद्धान्त हैं। पाँचो अणुव्रत मिलकर समस्त नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के अखण्ड सिद्धान्त सिद्ध होते हैं तथा आत्मोन्नति का मार्ग निर्देशित करते हैं।

परिशिष्ट

अहिंसा—सव्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गन्था वज्जयन्ति णं ॥—दशवैकालिक
यो भूतेष्वभयं दद्याद्भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ।
यादृग् वितीर्यते दानं तादृगासाद्यते फलम् ॥—हेमचन्द्र
आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥—अमृतचन्द्र

सत्य— मुसावाओ अ लोगम्मि सव्वसाहूहिं गरिहिओ ।
अविस्सासो अ भूआणं तम्हा मोसं विवज्जए ॥—दशवैकालिक
धूर्तकामुकक्रव्यादचौरचार्वाकसेविता ।
शङ्कासङ्केतपापाढ्या त्याज्या भाषा मनीषिभिः ॥—शुभचन्द्र

अस्तेय—अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् ।
तत् प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥—अमृतचन्द्र
अयं लोकः परलोको धर्मो धैर्यं धृतिर्मतिः ।
मुष्णता परकीयं स्वं मुषितं सर्वमप्यदः ॥—हेमचन्द्र

ब्रह्मचर्य— प्राणभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते ॥—हेमचन्द्र
यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्
सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ।
यदि युवतिकराङ्के निर्ममत्वं प्रपन्नो
झगिति ननु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥—शुभचन्द्र

अपरिग्रह— न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इअ वुत्तं महेसिणा ॥—दशवैकालिक
संसारमूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः ।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहम् ॥—हेमचन्द्र

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

जिसे पार करना कठिन है ऐसी उस नदीको तब राम, लक्ष्मण और सीता ने पार किया। सामन्तों ने अश्रु भरे नयनों से उन्हें पार जाते हुये देखा। जब वे और दिखलायी नहीं पड़े तब अत्यन्त दुःखी होकर वे अयोध्या लौट गये और सारा समाचार राजा दशरथ को सुनाया। सुनकर राजा भरत से बोले, 'वत्स, राम और लक्ष्मण जब नहीं लौटे हैं तो इस राज्य को अब तुम्ही ग्रहण करो। मेरी दीक्षा में अब और बिघ्न मत डालो।' भरत बोले, 'पिताजी मैं कदापि राज्य ग्रहण नहीं करूँगा। मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा और अपने ज्येष्ठ भ्राता को प्रसन्न कर लौटा लाऊँगा।'

उसी समय कैकेयी वहाँ उपस्थित हुयी और बोली, 'स्वामिन्, आपने सत्य की रक्षा के लिए भरत को राज्य दिया है। किन्तु आपके औचित्यवेत्ता इस पुत्र ने उसे ग्रहण नहीं किया। इससे मैं और इसकी अन्य माताएँ दुःखी हो रही हैं। विचार रहित मुझ पापिनि की मूर्खता के कारण ही ऐसा घटित हुआ है। हाय, आपके पुत्रवान होते हुए भी यह राज्य अब राजा विहीन हो गया है। कौशल्या, सुमित्रा और सुप्रभा का दुःखद क्रन्दन सुनकर मेरी छाती फटी जा रही है। हे नाथ, इसलिए आज्ञा दीजिए मैं भी भरत के साथ जाकर वत्स राम और लक्ष्मण को लौटा लाने का प्रयत्न करूँ।'

राजा दशरथ के सानन्द आज्ञा देने पर कैकेयी भरत और मन्त्रियों को संग लेकर शीघ्रतापूर्वक राम के पास जाने को निकल पड़ी। कैकेयी और भरत छः दिनों के मध्य ही वहाँ पहुँच गए। वहाँ उन्होंने राम लक्ष्मण और सीता को एक वृक्ष के नीचे बैठे देखा। उन्हें देखते ही कैकेयी रथ से नीचे उतरी और 'हे वत्स, हे वत्स' कहती हुयी बार-बार राम का मस्तक चूमने लगी। सीता और लक्ष्मण ने उनके चरण कमलों में प्रणाम किया। वह उन्हें दोनों भुजाओं में भरकर उच्च स्वर से रोने लगी। भरत ने आँखों में अश्रु भरकर राम के चरणों में प्रणाम किया। खेदरूपी विष के सर्वाङ्ग में व्याप्त हो जाने के कारण वे तत्क्षण मूर्च्छित हो गए। राम के द्वारा उनकी चेतना के लौटाये जाने पर सुसंस्कारी भरत इस प्रकार बोले, 'हे भाई, अज्ञात व्यक्ति की तरह मुझे त्याग-

कर आप यहाँ क्यों चले आए ? माँ ने जो गलती की उस अपराध का कलंक मेरे मस्तक पर लगा हुआ है कि भरत राज्यलोभी है। वह कलंक आप मुझे अपने साथ वन ले जाकर दूर करें। नहीं तो आप अयोध्या लौटकर राज्य लक्ष्मी को पुनः ग्रहण करें। ऐसा करने पर मेरा कुलीनता नाशक शल्य नष्ट हो जाएगा। आपके राजा होने पर सौमित्री आपके मंत्री बनेंगे, मैं आपका द्वारपाल और शत्रुघ्न छत्र धारक होगा।'

भरत के ऐसा कहने पर कैकेयी अश्रु विसर्जित करती हुयी बोली, 'वत्स, तुम्हारे भाई ने जैसा कहा है तुम वही करो। कारण तुम भातृ-वत्सल हो। इसमें तुम्हारे पिता का न कोई दोष है, न भरत का। यह समस्त अपराध तो स्त्री स्वभाव सुलभ कैकेयी का है। कुलटा स्वभाव को छोड़कर स्त्रियों में जितने भी दोष होते हैं उन सब दोषों की खान मैं हूँ। पति को, पुत्र को उनकी माताओं को दुःख पहुँचाने वाला कार्य मैंने किया है। उसके लिए पुत्र, मुझे क्षमा करो। कारण तुम भी मेरे पुत्र हो।'

तब राम अश्रु भरे नयनों से बोले, 'माँ, मैं राजा दशरथ का पुत्र होकर प्रतिज्ञा कैसे भंग करूँ ? पिता ने भरत को राज्य दिया उसमें मैंने अपनी सम्मति दी। अब जबकि हम दोनों जीवित हैं तो अन्यथा कैसे हो सकता है ? एतदर्थ हम दोनों की आज्ञा से भरत का राजा होना उचित है। पिताजी की तरह भरत के लिए मेरी आज्ञा भी अनुल्लंघनीय है।'

ऐसा कहकर सीता द्वारा लाए जल से समस्त सामन्तों के सन्मुख राम ने वहीं भरत का राज्याभिषेक किया। तदुपरान्त कैकेयी को प्रणाम और भरत को मधुर संभाषण से आश्वस्त कर राम ने दोनों को अयोध्या लौटा दिया और स्वयं दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गये।

अयोध्या आकर भरत ने पिता और ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा से अखण्ड राज्यभार ग्रहण किया। दशरथ ने भी बहुत से परिजनों सहित सत्यभूति मुनि से दीक्षा ग्रहण कर ली। अग्रज के वनवास करने के कारण सद्बुद्धि भरत दुःखभरे हृदय से अर्हतों की पूजा में निरत रहते हुए एक भृत्य की भाँति राज्य की रक्षा करने लगे।

पृथ्वी के देवरूपी राम लक्ष्मण व सीता सहित राह में पड़नेवाले चित्रकूट को लांघकर कुछ ही दिनों में अवन्ती देश के एक भाग में जा पहुँचे।

चतुर्थ सर्ग समाप्त

पंचम सर्ग

राह चलते-चलते सीता क्लान्त हो गयी। उसे विश्राम देने के लिए राम यक्षपति कुबेर की तरह एक बटवृक्ष के नीचे बैठ गए। फिर चारों ओर देखकर लक्ष्मण से बोले, 'लगता है किसी के भय से यह स्थान हाल ही में जनहीन हुआ है। कारण उद्यान की मिट्टी अभी सूखी नहीं है। गन्ने के खेतों में अभी भी गन्ना लगा हुआ है। खलिहानों में अन्न उसी भाँति भरा हुआ है। इससे लगता है कुछ दिन पूर्व ही यह स्थान जनहीन हुआ है।'

उसी समय एक व्यक्ति को उधर से जाते देखकर राम ने उससे पूछा, 'भद्र, बता सकते हो यह स्थान अचानक जनशून्य क्यों हो गया? तुम भी यहाँ से कहाँ जा रहे हो?' प्रत्युत्तर में वह बोला—

'इस देश का नाम अवन्ती है। इसकी राजधानी का नाम भी अवन्ती है। वहाँ सिंह से दुस्सह सिंहोदर नामक एक राजा राज्य करता है। उनके राज्य में दशांगपुर नामक एक नगर है। वहाँ वज्रकरण नामक सिंहोदर के एक सामन्त राज्य करते हैं। एकबार बज्रकरण शिकार करने गए। वहाँ उन्होंने प्रीतिवर्द्धन नामक मुनि को कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित देखा। उन्होंने उनसे पूछा, 'इस घोर अरण्य में आप वृक्ष की भाँति क्यों खड़े हैं?' प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा, 'आत्महित के लिए।' बज्रकरण ने पुनः पूछा, 'इस अरण्य में अनाहार रहकर आप अपना आत्महित कैसे करते हैं?' योग्य अधिकारी समझकर मुनि ने उन्हें आत्महित का उपदेश दिया। उस उपदेश को सुनकर विचक्षण बज्रकरण ने तत्क्षण श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। और यह नियम लिया कि वे अर्हत देव और गुरु जैन मुनि के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करेंगे।

'मुनि को पुनः वन्दन कर बज्रकरण दशांगपुर लौट गए। श्रावक धर्म का पालन करते हुए उन्होंने एक दिन सोचा, मैंने देव गुरु के अतिरिक्त किसी को भी नमस्कार न करने का नियम लिया है उस नियम के लिए यदि मैं सिंहोदर को नमस्कार नहीं करूँगा तो वह मुझसे रुष्ट हो जाएगा। अतः इसके लिए कोई उपाय करना चाहिए। यह सोचकर उसी बुद्धिमान सामन्त ने अपनी अंगूठी में मुनि सुव्रत स्वामी की मणिमय मूर्ति स्थापित करवायी। तदुपरान्त उस अंगूठी में स्थित मुनि सुव्रत मूर्ति को नमस्कार करके सिंहोदर को प्रतारित करने लगे। अति बलवान व्यक्ति के सम्मुख माया ही कार्य करती है। बज्रकरण की इस छलनीति की बात किसी ने जाकर सिंहोदर से कह दी। दुष्ट हमेशा छूरी की तरह सबका अनिष्ट ही करता रहता है।

'यह सुनकर सिंहोदर बज्रकरण पर कुपित होकर सर्प की तरह फुफकारने लगे। यह बात मैंने जाकर बज्रकरण को कह दी। बज्रकरण बोला, 'वे मुझपर कुपित हैं तुमने यह बात कैसे जानी?' प्रत्युत्तर में मैंने कहा, 'कुन्दनपुर में समुद्रसंगम नामक एक श्रावक रहते हैं, मैं उनका पुत्र विदयुदंग हूँ। मेरी माँ का नाम यमुना है। यौवनावस्था प्राप्त होने पर मैं बहुत सारा द्रव्य लेकर क्रय-विक्रय के लिए उज्जयिनी नगरी में गया। वहाँ मृगनयनी कामलता नामक एक वेश्या को देखा। उसे देखते ही मैं काम के वशीभूत हो गया। एक ही रात इसके पास रहूँगा यह निश्चित कर मैं उसके पास गया और उससे समागम किया किन्तु जाल में जैसे मृग आबद्ध हो जाता है। उसी प्रकार मैं उसके आसक्ति जाल में आबद्ध होकर पिताजी की जीवन भर की कमाई छह महीने में ही नष्ट कर दी।

'एक दिन कामलता मुझसे बोली, 'सिंहोदर राजा की पटरानी श्रीधरा के जैसे कुण्डल है वैसे कुण्डल मुझे लाकर दो।' मैं सोचने लगा—अब जबकि मेरे पास बिल्कुल अर्थ नहीं है तब वैसे कुण्डल मैं कैसे बनवा सकूँगा? अतः उसके कुण्डलों को चोरी कर लाना ही अच्छा होगा। ऐसा सोचकर एक दिन साहसपूर्वक सेंध लगाकर राजा के महल में प्रवेश कर गया। उसी समय श्रीधरा और सिंहोदर में जो बातचीत हो रही थी उसे मैं सुन सका। श्रीधरा ने पूछा, 'हे नाथ, आज आपको नींद क्यों नहीं आ रही है? आप इतने उद्विग्न क्यों हैं?' सिंहोदर ने उत्तर दिया, 'देवी, जब तक मैं बज्रकरण की (जो कि मुझे प्रणाम नहीं करता) हत्या नहीं करूँगा तब तक मुझे नींद कैसे आएगी? कल सुबह ही मित्र पुत्र बन्धु बान्धव सहित मैं बज्रकरण की हत्या करूँगा तभी मैं सो पाऊँगा उसके पूर्व नहीं।' उसकी यह बात सुनकर स्वधर्मी प्रेम के कारण कुण्डल चोरी किये बिना ही मैं यह संवाद आपको देने के लिए भागता हुआ आया हूँ।

'यह संवाद सुनकर बज्रकरण ने अपने नगर को अन्न और तृण से पूर्ण कर लिया। तभी शत्रु सेना के पैरों से उड़ती हुयी धूल आकाश में दिखाई पड़ी और चन्दन वृक्ष को जैसे साँप घेर लेता है उसी प्रकार अल्प समय में ही दशांगपुर नगर को सिंहोदर ने घेर लिया। तदुपरान्त एक दूत के साथ कहला भेजा, 'ओ कपटी, अंगुली मे अंगूठी धारण कर तूने बहुत दिनों तक मुझे प्रतारित किया। अतः अंगुली से अंगूठी उतार कर आओ और मुझे प्रणाम करो। ऐसा नहीं करने पर तुम सपरिवार शीघ्र ही यमराज के पास पहुँच जाओगे।'

'प्रत्युत्तर में बज्रकरण ने कहला भेजा, 'मैंने नियम लिया है कि मैं अर्हत् और साधु के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करूँगा। इसलिए मैंने ऐसा किया है। मुझे पराक्रम का बिलकुल अभिमान नहीं है किन्तु धर्म का अभिमान है। अतः नमस्कार के अतिरिक्त मेरा जो कुछ भी है आप यथारुचि ग्रहण करें और मुझे एक धर्म द्वार दें जिससे धर्म के लिए मैं अन्यत्र चला जाऊँ। धर्म ही मेरा धन है।'

'किन्तु सिंहोदर ने यह बात स्वीकार नहीं की। कारण अभिमानी पुरुष धर्म-अधर्म को कुछ नहीं समझते। तभी से सिंहोदर बज्रकरण सहित इस नगर को घेरे हुए हैं। उसी के भय से यह सारा प्रदेश जनहीन हो गया है। इस राजविग्रह को देखकर मैं भी सकुटुम्ब अन्यत्र चला गया हूँ। आज ही वहाँ कई घर जला दिए गए हैं। उनके साथ ही मेरा घर भी जल गया है। मेरी क्रूर पत्नी ने उन सब जले हुए घरों से मूल्यवान द्रव्य चोरी करके लाने को कहा है। दैवयोग से उसके दुर्वचनों का भी मुझे शुभ फल मिला है जिससे आप जैसे देव पुरुष से साक्षात् हो गया।'

उस दारिद्रय पीड़ित की कथा सुनकर करुणामय रघुवंशी राम ने उसे एक रत्नजड़ित सुवर्ण हार दिया। फिर उसे विदा कर वे दशांगपुर गए और नगर के बाहर चन्द्रप्रभ स्वामी का जो चैत्य था वहाँ जाकर उन्हें वन्दन किया और वहीं अवस्थित हो गए। तदुपरान्त राम की आज्ञा से लक्ष्मण दशांगपुर में बज्रकरण के पास गए। कारण सरल व्यक्तियों की यही रीति है। बज्रकरण उन्हें आकृति से उत्तम पुरुष समझकर बोले, 'हे महाभाग, आप मेरा आतिथ्य ग्रहण करें।' लक्ष्मण ने प्रत्युत्तर दिया, 'मेरे अग्रज राम पत्नी सीता सहित नगर के बाहर अवस्थित हैं। उनके भोजन कर लेने पर ही मैं भोजन कर सकता हूँ।' तब राजा बज्रकरण नानाविध खाद्य द्रव्य लेकर लक्ष्मण सहित राम के निकट आए।

आहार के पश्चात् राम ने लक्ष्मण को कुछ कहकर सिंहोदर के पास भेजा। लक्ष्मण सिंहोदर के पास जाकर मधुर वचनों में बोले, 'समस्त राजाओं को जिन्होंने अपना दास बना लिया है ऐसे राजा दशरथ के पुत्र राजा भरत ने बज्रकरण के साथ विरोध न करने का आपको आदेश दिया है।' यह सुनकर सिंहोदर बोला, 'राजा भरत भी जो उनका भक्त है उसी पर कृपा करते हैं अन्य पर नहीं। मेरा यह दुष्ट सामन्त बज्रकरण मुझे नमस्कार नहीं करता तब आप ही कहिए मैं इस पर कृपा किस तरह करूँ?' लक्ष्मण बोले, 'बज्रकरण आपके

प्रति अविनयी नहीं है। धर्म के अनुरोध पर उसने अन्य को प्रणाम न करने की शपथ ली है इसीलिए वह आपको प्रणाम नहीं करता। अतः बज्रकरण पर क्रोध न करें। इसके अतिरिक्त राजा भरत का आदेश भी आपको मानना चाहिए कारण राजा भरत का आधिपत्य समुद्र पर्यन्त समस्त पृथ्वी पर है।'

लक्ष्मण की बात सुनकर सिंहोदर क्रुद्ध होकर बोला, 'यह भरत राजा कौन है? जिसने पागल की तरह बज्रकरण का पक्ष लेकर ऐसा कहलवाया है?'

यह सुनकर लक्ष्मण के नेत्र लाल हो उठे, होंठ फड़कने लगे। वे बोले, 'ओ मूर्ख, तुम राजा भरत कौन है नहीं जानते, तो लो मैं अभी उनसे तुम्हारा परिचय करवा देता हूँ। उठो युद्ध के लिए तैयारी करो। मेरी बज्र-सी भुजाओं द्वारा ताड़ित होने पर तुम छिपकली-से बच नहीं पाओगे।'

यह सुनकर सिंहोदर बालक जिस प्रकार भस्माच्छादित अग्नि को स्पर्श करने के लिए तत्पर होता है उसी प्रकार लक्ष्मण के साथ युद्ध करने को, उन्हें मारने को प्रस्तुत हो गया।

तब लक्ष्मण ने हाथियों को बाँधने के आलानस्तम्भ को कमलनाल की भाँति उखाड़ कर दण्ड-से उसे हाथ में लिए यमराज की भाँति शत्रुओं को मारने लगे। तदुपरान्त वे महाबाहु हाथी पर चढ़कर हाथी की पीठ पर बैठे सिंहोदर को उसी के वस्त्र से पशु को जिस प्रकार गले में रस्सी डालकर बाँध दिया जाता है उसी भाँति बाँध दिया।

दशांगपुर के लोग आश्चर्य चकित होकर उस दृश्य को देखने लगे। लक्ष्मण सिंहोदर को उसी अवस्था में खींचते हुए रामचन्द्र के पास ले गए। राम को देखकर सिंहोदर उन्हें नमस्कार करते हुए बोले, 'हे रघुकुल नायक, मुझे नहीं मालूम था कि आप यहाँ आए हैं। शायद मेरी परीक्षा लेने के लिए ही आपने ऐसा किया है। देव, यदि आप ही अपना पराक्रम दिखाने के लिए तत्पर हो जाएँगे तब तो मेरा जीवित रहना ही कठिन हो जाएगा। हे स्वामिन्, मेरा यह अज्ञान जन्य अपराध क्षमा करें और मुझे क्या करना है बताएँ, क्योंकि सेवक पर स्वामी का क्रोध शिष्य पर गुरु का क्रोध उन्हें शिक्षा देने के लिए ही होता है।'

राम बोले, 'बज्रकरण के साथ सन्धि कर लो।' सिंहोदर ने तथास्तु कहकर यह स्वीकार कर लिया। फिर राम की आज्ञा से बज्रकरण वहाँ आए और करबद्ध हो विनय पूर्वक राम के सामने खड़े होकर बोलने लगे, 'ऋषभदेव स्वामी के वंश में आपलोगों ने बलभद्र और वासुदेव के रूप में जन्म ग्रहण

किया है—यह मैंने सुना है। आज सौभाग्य से आप दोनों के दर्शनों का लाभ मिला है। पहले नहीं जानता था पर अब जान रहा हूँ। आप भरतार्द्ध के अधिपति हैं। मैं और अन्यान्य राजागण आपके दास हैं। हे नाथ, मेरे स्वामी सिंहोदर को छोड़ दें और इन्हें समझावें कि मेरे अन्य को नमस्कार न करने के अभिग्रह को सहन करें। अर्हत देव और साधु के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं करूँगा—मैंने यह नियम प्रीतिवर्द्धन मुनि से लिया था।

राम के भृकुटि निर्देश मात्र से सिंहोदर ने यह बात स्वीकार कर ली। लक्ष्मण ने जब उसे मुक्त कर दिया तो उसने वज्रकरण को अपने आलिंगन में लिया और अनुज की तरह राम की साक्षी में अपना आधा राज्य वज्रकरण को दे दिया। दशांगपुर के राजा वज्रकरण ने अवन्ती के राजा सिंहोदर से श्रीधरा के कुण्डल मांगकर विद्युदंग को दिए। वज्रकरण ने अपनी आठ कन्याएँ और सामन्त सहित सिंहोदर ने उनकी ३०० कन्याएँ लक्ष्मण को दीं। तब लक्ष्मण ने उनसे कहा अभी आप लोग अपनी कन्याओं को अपने पास ही रखिए क्योंकि इस समय पिताजी ने भरत को सिंहासन पर बैठाया है अतः जब मैं सिंहासन पर बैठूँगा उस समय आपकी कन्याओं का पाणिग्रहण करूँगा। अभी तो हम मलयाचल जाकर रहेंगे।' वज्रकरण और सिंहोदर ने यह स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् रामने सभी को बिदा दी। बिदा लेकर सभी अपने-अपने नगर को लौट गए।

राम, सीता और लक्ष्मण सहित उस रात वहीं रहे। दूसरे दिन सुबह यात्रा करते हुए वे एक निर्जन प्रदेश में जा पहुँचे। सीता को बहुत प्यास लगी थी अतः लक्ष्मण राम-सीता को एक वृक्ष के नीचे बैठाकर राम की आज्ञा लेकर जल की खोज में निकले। चलते-चलते उन्होंने कमलाच्छादित प्रिय-मित्र-सा बल्लभ और आनन्ददायक एक सरोवर देखा। वहाँ कुवेरपुर का राजा कल्याण माला क्रीड़ा करने आया हुआ था। वह लक्ष्मण को देखते ही अति-दुरात्मा काम देव के वाण से विद्ध हो गया। उसने लक्ष्मण को नमस्कार कर कहा, 'आज आप हमारे अतिथि बने।'

उसकी देह में काम विकार और स्त्रियोंचित लक्षण देखकर लक्ष्मण मन-ही-मन सोचने लगे—यह कोई स्त्री प्रतीत होती है किसी कारण वश इसने पुरुष वेश धारण कर रखा है। ऐसा सोचकर वे उससे बोले, 'यहाँ से कुछ ही दूर पर मेरे प्रभु, पत्नी सहित बैठे हुए हैं। उनके आहार किए विना मैं आहार नहीं कर सकता।'

कल्याणमाला ने भद्र आकृति युक्त एवं मधुर भाषी व्यक्तियों को भेजकर राम और सीता को वहाँ बुलवा लिया। कल्याणमाला ने उन्हें प्रणाम किया और उनके लिए एक स्कन्धावार निर्मित करवा दिया। राम ने वहीं स्नान कर भोजन किया।

तदुपरान्त कल्याणमाला स्त्री वेष धारण कर बिना अनुचरों को लिए केवल एक मंत्री के साथ राम के पास गयी। लज्जा से नम्र बनी कल्याणमाला को राम ने पूछा, 'भद्रे, पुरुष वेश धारण कर तुम क्यों स्त्री भाव को छिपा रही हो?'

कुवेर पति कल्याणमाला ने तब कहा, 'इस कुवेरपुर में बालिखिल्य नामक एक राजा थे। पृथ्वी नामक उनकी रानी थी। जब रानी गर्भवती हुयी उसी समय म्लेच्छों ने कुवेरपुर पर आक्रमण किया और बालिखिल्य को बन्दी कर ले गए। समय होने पर पृथ्वी देवी ने एक कन्या को जन्म दिया किन्तु बुद्धिशाली सुबुद्धि नामक मंत्री ने समस्त नगर में प्रचारित कर दिया कि राजा के पुत्र हुआ है। पुत्र जन्म का संवाद पाकर यहाँ के मुख्य राजा सिंहोदर ने कहला भेजा कि जब तक वालिखिल्य मुक्त होकर यहाँ लौटकर नहीं आ जाते हैं तब तक यह बालक ही यहाँ का राजा रहेगा। अतः मैं जन्म से ही पुरुष वेष धारण कर इतनी बड़ी हुयी हूँ। यह बात सिवाय मेरे, मेरी माँ और मंत्री के, कोई नहीं जानता। कल्याणमाला के नाम से प्रसिद्ध होकर मैं मन्त्रियों के विचार सामर्थ्य से इस राज्य पर शासन कर रही हूँ। कभी-कभी असद भी सद् प्रवृत्ति का रूप ले लेता है। मैंने अपने पिताजी को मुक्त कराने के लिए म्लेच्छों को बहुत धन दिया है। किन्तु वे धन तो ले लेते हैं लेकिन उन्हें मुक्त नहीं करते। अतः हे दयानिधि आप कृपा करें। आपने जिस प्रकार सिंहोदर के हाथ से बज्रकरण को मुक्त किया है। उसी प्रकार मेरे पिताजी को भी म्लेच्छों के हाथों से मुक्त करिए।'

राम बोले, 'जब तक हम तुम्हारे पिताजी को मुक्त नहीं करवा देते हैं तब तक तुम पूर्व की भाँति ही पुरुष वेश में राज्य करो।'

'यह आपकी दया है' कहकर, कल्याण माला ने अन्यत्र जाकर पुरुष वेश धारण कर लिया। तब सुबुद्धि मन्त्री ने रामसे कहा, 'लक्ष्मण कल्याणमाला के पति बनें।' राम ने कहा 'अभी हमलोग पिता की आज्ञा से देशान्तर में जा रहे हैं। जब लौटेंगे तब लक्ष्मण कल्याणमाला से विवाह कर लेगा।' यह बात उन्होंने स्वीकार कर ली। राम ने तीन दिनों तक वहाँ अवस्थान

किया। चौथे दिन पो फटने के पूर्व ही जबकि सभी सो रहे थे राम ने लक्ष्मण और सीता सहित उस स्थान का परित्याग कर दिया।

प्रातःकाल कल्याणमाला ने जब राम, लक्ष्मण और सीता को वहाँ नहीं देखा तो अत्यन्त दुःखी होकर खिन्न मन से स्वनगर को लौट गयी और पूर्व की भाँति ही राज्य करने लगी।

चलते-चलते राम नर्मदा नदी के निकट पहुँचे और उसे अतिक्रमण कर विंध्याटवी में प्रविष्ट हुए। अन्य यात्रियों ने उन्हें उधर जाने से रोका। किन्तु इन्होंने उनकी बात नहीं सुनी। उसी समय दक्षिण दिशा में कण्टक सेमल के एक वृक्ष पर बैठा एक कौआ कठोर स्वर में काँव-काँव करने लगा। तदुपरान्त क्षीर वृक्ष पर बैठा हुआ दूसरा कौआ मधुर स्वर में काँव-काँव करने लगा। लेकिन यह सब सुनकर भी राम को न हर्ष हुआ न शोक। दुर्बल लोग ही शकुन व अपशकुन को देखते हैं। और आगे जाने पर उन्होंने असंख्य हस्ती-रथ और अश्वारोहियों से युक्त म्लेच्छ सेना को अन्य देश पर आक्रमण करने जाते हुए देखा।

उस सेना में एक युवक सेनापति था। वह सीता को देखकर कामातुर हो गया। अतः उस स्वेच्छाचारी ने उसी समय म्लेच्छ सेना को आदेश दिया, 'तुम लोग जाकर उन दोनों पथिकों को प्रताड़ित कर या मारकर उस सुन्दर स्त्री को मेरे लिए ले आओ।'

आज्ञा मिलते ही वे वाण और बर्छी आदि तीक्ष्ण अस्त्रों से राम पर प्रहार करने के लिए दौड़े।

उन्हें आते देख लक्ष्मण ने रामचन्द्र से कहा, 'आर्य, श्वानों-जैसे इन म्लेच्छों को जब तक मैं भगा नहीं देता हूँ, आप सीता सहित यहीं अवस्थान करें।'

ऐसा कहकर लक्ष्मणने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर उससे टंकार ध्वनि की। उस टंकार को सुनकर सिंह की गर्जना से जिस प्रकार हाथी भयभीत हो जाता है उसी प्रकार म्लेच्छ सेना भयभीत हो उठी। सोचने लगे, जिसके धनुष की टंकार ऐसी असह्य है उसके वाणों का तो कहना ही क्या? अतः म्लेच्छाधिपति राम के निकट आए। शस्त्र परित्याग कर रथ से नीचे उतरे और दीन-सा मुख लिये राम को नमस्कार किया किन्तु लक्ष्मण क्रुद्ध दृष्टि से ही उसे देखते रहे।'

म्लेच्छाधिपति बोला, 'हे देव, कोशाम्बीपुर में वैश्वानर नामक एक

ब्राह्मण था। उसके सावित्री नामक एक पत्नी थी। मैं उन्हीं का पुत्र हूँ रूद्रदेव। मैं जन्म से क्रूर कार्य करने वाला हूँ, चोर हूँ, पर-स्त्री लम्पट हूँ। ऐसा कोई दुष्कर्म नहीं है जिसे मैंने नहीं किया। एक बार सेंध लगाते समय राज-प्रहरियों ने मुझे पकड़ लिया। तदुपरान्त राज्याज्ञा से मुझे शूली देने के लिए ले गए। कसाई के घर बकरा जैसी दीनावस्था में रहता है, उसी प्रकार शूली के निकट मुझे खड़ा देखकर एक श्रावक के मन में दया उत्पन्न हो गयी। उस महात्मा ने दण्ड का अर्थ देकर मुझे मुक्त करवा दिया और 'कभी चोरी नहीं करना' कहकर मुझे छोड़ दिया। तब मैं उस देश का परित्याग कर घूमता हुआ इस पल्ली में आया और काक नाम से प्रसिद्ध होकर क्रमशः पल्लीपति का पद प्राप्त किया। और अब तस्करों की सहायता करने के लिए नगर में जाकर लूटपाट करता हूँ, राजाओं को पकड़ लाता हूँ और शुल्क अदा करता हूँ। अतः मुझे आज्ञा दें यह किंकर आपकी क्या सेवा करे? मेरा अविनय क्षमा करें।'

राम ने उस किरातपति से कहा, 'वालिखिल्य राजा को मुक्त कर दो।' उसने उसी क्षण वालिखिल्य राजा को मुक्त कर दिया। उन्होंने आकर राम को प्रणाम किया। राम की आज्ञा से काक ने वालिखिल्य को कुवेर नगर में पहुँचा दिया। वहाँ उन्होंने अपनी पुत्री कल्याणमाला को पुरुष वेश में देखा। तदुपरान्त कल्याणमाला और वालिखिल्य ने एक दूसरे को अपनी कथा सुनायी। काक स्वपल्ली को लौट गया। राम वहाँ से चलते हुए विंध्य अटवी अतिक्रम कर तापी नदी के तट पर आ पहुँचे।

तापी नदी को पार कर आगे बढ़ते हुए उसी देश की सीमा पर स्थित अरुण नामक ग्राम में पहुँचे। सीता को प्यास लगने के कारण वे तीनों ही कपिल नामक एक क्रोधी अग्निहोत्री ब्राह्मण के घर गये। उसकी स्त्री सुशर्मा ने उन्हें बैठने के लिए अलग-अलग आसन दिए और शीतल एवं स्वादिष्ट जल पीने को दिया। उसी समय पिशाच-सा भयंकर कपिल घर लौटा। उन्हें अपने घर पर बैठा देखकर क्रोधित हो उठा और अपनी पत्नी से बोला, 'ऐ पापिनी, तूने इन अपवित्र मनुष्यों को घर में क्यों घुसाया? मेरा अग्निहोत्र अपवित्र हो गया। यह सुनकर क्रुद्ध हुए लक्ष्मण, कपिल को उठाकर हाथी की तरह आकाश में घुमाने लगे। तब राम बोले, 'हे मानद, कीट जैसे इस अधम ब्राह्मण पर तुम क्यों कुपित हुए हो? छोड़ दो इसे।' राम के कहने पर लक्ष्मण ने उसे छोड़ दिया। तदनन्तर सीता और लक्ष्मण सहित राम उस गृह का परित्याग कर अन्यत्र चले गए।

चलते-चलते वे एक बृहद् अरण्य में प्रविष्ट हुए। तभी आकाश काले बादलों से घिर गया। वर्षा ऋतु आ गयी थी। वर्षा आरम्भ होने पर राम ने एक वटवृक्ष के नीचे आश्रय लिया और बोले, 'इसी वटवृक्ष के नीचे ही हम वर्षाकाल व्यतीत करेंगे।' यह सुनकर उस वृक्ष का अधिष्ठायक यक्ष इभकर्ण भयभीत होकर अपने स्वामी गोकर्ण यक्ष के निकट जाकर उन्हें प्रणाम कर बोला, 'हे प्रभु, अत्यन्त तेजस्वी पुरुषों ने आकर मुझे मेरे निवास स्थान से प्रताड़ित कर दिया है। अतः आश्रयहीन होकर मैं आपके पास आया हूँ। आप मेरी रक्षा करिए। वे मेरे निवास स्थान वटवृक्ष के नीचे ही वर्षाकाल व्यतीत करेंगे।'

गोकर्ण अवधि ज्ञान से सब कुछ जानकर बुद्धिमान की तरह उससे कहा—'जो तुम्हारे घर आए हैं वे अष्टम वासुदेव और बलभद्र हैं। अतः वे पूजनीय हैं।' तब गोकर्ण यक्ष उसे अपने साथ लेकर जहाँ राम अवस्थित थे वहाँ आया और रात्रि में ६ योजन दीर्घ और १२ योजन प्रशस्त धन-धान्य भरा उच्च प्राकारों से युक्त बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं से सुशोभित विविध प्रकार के पदार्थों से पूर्ण एक नगरी का निर्माण किया और उसका नाम रखा रामपुरी। प्रातःकाल राम मंगल ध्वनि सुनकर जागे और वीणाधारी यक्ष एवं समस्त समृद्धिपूर्ण नगरी को देखा। अकस्मात् निर्मित उस नगरी को देखकर राम चकित हो गए। विस्मित राम से यक्ष बोला, 'हे स्वामी, आप हमारे अतिथि हैं। मैं गोकर्ण यक्ष हूँ। आपके लिए इस नगरी का निर्माण किया है। आप जब तक यहाँ रहेंगे उतने दिनों तक अनुचर सहित मैं आपकी सेवा करूँगा। आप इच्छानुसार सानंद यहीं रहें। उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर राम सौमित्री और सीता सहित यक्ष के अनुचर द्वारा सेवित होते हुए सुखपूर्वक वहाँ निवास करने लगे।

एक बार कपिल ब्राह्मण हाथ में कुल्हाड़ी लिए समिध संग्रह के लिए इसी महारण्य में पहुँचा। वहाँ नयी नगरी बसी हुई देखकर चकित बना सोचने लगा—यह माया है या इन्द्रजाल या कोई गन्धर्वपुर है? वह जब इस प्रकार सोच रहा था तभी एक सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित मानवी रूप एक यक्षणी को देखा। कपिल ने उससे पूछा, 'यह नवीन नगरी किसकी है?' उसने उत्तर दिया, राम सीता और लक्ष्मण के लिए इस नवीन नगरी का निर्माण गोकर्ण यक्ष ने किया है। इसका नाम रामपुरी है। यहाँ दयानिधि राम दीनों को दान देते हैं। जो भी दुःखीजन यहाँ आते है कृतार्थ होकर यहाँ से लौटते हैं।'

यह सुनकर कपिल समिध का बोझ एक ओर फेंककर उसके चरणों में गिर पड़ा और पूछा कि वह कैसे राम से मिल सकता है। यक्षी बोली, 'इस नगरी के चार द्वार हैं। प्रत्येक द्वार पर यक्ष द्वारपाल की तरह खड़े होकर नगरी की रक्षा करते हैं। अतः भीतर जाना कठिन है। किन्तु इसके पूर्व द्वार पर एक जिन चैत्य है। वहाँ जाएँ। श्रावक बनकर यथाविधि देव बन्दना कर नगरी की तरफ जाने पर ही नगर में प्रवेश कर सकते हैं। धनलोलुप कपिल साधुओं के पास गया, उन्हें बन्दना कर उनका उपदेश सुना। वह लघुकर्मी था। अतः तत्काल ही वह धर्मोपदेश के प्रभाव से शुद्ध श्रावक हो गया। फिर घर जाकर अपनी पत्नी को लाया और उसे भी धर्मोपदेश सुनाकर शुद्ध श्राविका बना दिया।

तदुपरान्त जन्म से ही दारिद्राग्नि में दग्ध वे दम्पति राम के निकट धन-प्राप्ति की इच्छा से रामपुरी गये और जिन मन्दिर में जाकर तीर्थंकरों की वन्दना की। तदुपरान्त पुरी में प्रवेश कर अनुक्रम से राम के निवास पर जाकर उपस्थित हुए। राम सीता और लक्ष्मण को देखते ही उसे स्मरण हो गया कि वह उनपर क्रुद्ध हुआ था। अतः उसकी इच्छा वहाँ से भाग जाने की हुई। उसे भयभीत होते देखकर लक्ष्मण दयार्द्र होकर बोले, 'हे ब्राह्मण, भय का कोई कारण नहीं है। यदि प्रार्थी होकर आए हो तो इधर आओ और जो कुछ चाहिए बताओ।' यह सुनकर वह निःशंक होकर राम के समीप गया और उन्हें आशीर्वाद देकर यक्ष द्वारा प्रदत्त आसन पर उनके सन्मुख बैठ गया। तब राम ने पूछा, 'भद्र, तुम कहाँ से आये हो?' वह बोला, 'मैं अरुण ग्राम निवासी वही ब्राह्मण हूँ। क्या आपने मुझे पहचाना नहीं? जब आप मेरे घर पर अतिथि रूप में आए थे तब मैंने क्रोधवशतः आपको बहुत कठोर वचन कहे थे फिर भी आपने मुझपर दया कर इन्हीं आर्य पुरुष के हाथों से मुक्त करवाया था।' कपिल की पत्नी सुशर्मा भी दीन हीन मुख लिए सीता के पास जाकर उसे आशीर्वाद दिया और पास बैठकर पूर्व विवरण विवृत किया। राम ने उसे खूब धन देकर उसकी इच्छा पूर्ण कर विदा किया। वहाँ से वे अपने गाँव को लौट गए। अब कपिल के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया एतदर्थ यथारीति दान देकर वह नन्दावतंस मुनि से दीक्षित हो गया।

वर्षा ऋतु समाप्त होने पर राम ने जाने की इच्छा प्रकट की। यह सुनकर गोकर्ण यक्ष करबद्ध होकर उनके सामने खड़ा हो गया और बोला, 'हे प्रभु आप यहाँ से जाना चाहते हैं तो प्रसन्नतापूर्वक जाइये। आपकी सेवा में यदि

कोई त्रुटि रह गयी हो या मेरे द्वारा कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा करें। हे महाबाहु, आपके अनुरूप सेवा करने का सामर्थ्य किसमें है? ऐसा कहकर स्वयंप्रभ नामक एक हार राम को, दो दिव्य कुण्डल लक्ष्मण को और चूड़ामणि सीता को भेंट की। साथ ही इच्छानुसार वादित एक वीणा भी सीता को दी। तब यक्ष से अनुमति लेकर इच्छा के अनुसार वे वहाँ से प्रस्थान कर गए। तब गोकर्ण यक्ष ने जिस नगरी का निर्माण किया था उसे नष्ट कर दिया।

राम लक्ष्मण और सीता चलते-चलते *अरण्य अतिक्रम* कर एक दिन संध्या समय विजयपुर नगर के निकट पहुँचे। उस नगर के बाहर दक्षिण दिशा में एक उद्यान था। वहीं एक वट वृक्ष के नीचे वे अवस्थित हो गए।

उस नगरी के राजा का नाम था महीधर। उसकी रानी का नाम इन्द्राणी और कन्या का नाम वनमाला था। वनमाला ने सौमित्री के गुणों और रूप सम्पदा की चर्चा सुनी थी। अतः बाल्यकाल से ही वह उनके प्रति अनुरागिनी हो गयी थी। किन्तु महीधर ने जब सुना कि राजा दशरथ दीक्षित हो गए और राम लक्ष्मण वन को चले गए हैं तो बहुत दुःखी हो गए और चन्द्रनगर के राजा वृषभ के पुत्र सुरेन्द्ररूप के साथ वनमाला का सम्बन्ध ठीक कर दिया।

वनमाला ने जब यह सुना तो मरण निश्चित कर उसी रात घर से निकल कर दैव योग से उसी उद्यान में पहुँची जहाँ राम, लक्ष्मण और सीता अवस्थित थे। उसने यक्षायतन में जाकर यक्ष की पूजा की और यह प्रार्थना की कि आगामी जन्म में लक्ष्मण ही उसके पति बने। वहाँ से वह उसी वटवृक्षके समीप गयी। राम और सीता तो उस समय सो गए थे किन्तु लक्ष्क्षण प्रहरी की भाँति जाग्रत थे। उन्होंने वनमाला को देखकर सोचा यह कोई वन देवी है या वटवृक्ष की कोई अधिष्ठात्री या कोई यक्षिणी है। इसी बीच लक्ष्मण ने सुना—'इस जन्म में लक्ष्मण मेरे पति नहीं हो सके किन्तु यदि उनके प्रति मेरी पूर्ण भक्ति है तो आगामी जन्म में मैं उन्हें प्राप्त करूँ।' तदुपरान्त लक्ष्मण ने देखा उसने अपने उत्तरीय को वटवृक्ष की डाल पर बाँध कर गले में फाँसी लगा ली। लक्ष्मण तत्काल वहाँ गए और उसके गले की फाँसी खोलकर उसे नीचे उतारा और बोले, 'भद्रे, मैं ही लक्ष्मण हूँ, तुम यह दुःस्साहस क्यों कर रही हो?'

रात्रि के अन्तिम भाग में राम और सीता के जागने पर लक्ष्मण ने वनमाला का समस्त वृत्तान्त राम को सुनाया। वनमाला लज्जित हो गयी। उसने सिर ढककर राम एवं सीता को प्रणाम किया।

उधर सुबह होते ही महीधर राजा की रानी ने वनमाला को जब प्रासाद में नहीं देखा तो करुण स्वर में रोने लगी। महीधर राजा उसे सान्त्वना देकर वनमाला को खोजने निकले। सेना सहित उसे इधर-उधर खोजते हुए उसी उद्यान में उनकी नजर वनमाला पर पड़ी। महीधर की सेना 'मारो-मारो' कहती हुयी अस्त्र उठाकर अपहरणकारी लक्ष्मण की ओर दौड़ी। उन्हें इस प्रकार आते देख लक्ष्मण क्रुद्ध हो उठे और खड़े होकर भृकुटि की तरह धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर शत्रु को नष्ट कर देने वाली टंकार की। उस टंकार को सुनकर सैनिक क्षुब्ध और त्रासित होकर धरती पर गिर पड़े। केवल महीधर राजा अकेले ही उनके सन्मुख खड़े रहे। उन्होंने गौर से लक्ष्मण को देखा और पहचान गए। बोले, 'सौमित्री, धनुष पर से प्रत्यंचा उतार दो। मेरी लड़की के पुण्योदय से ही तुम्हारा यहाँ आना हुआ है।'

लक्ष्मणने तुरन्त धनुष से प्रत्यंचा उतार दी। महीधर यह देखकर आश्वस्त हुए। फिर उनकी दृष्टि राम पर पड़ी। वे रथ से उतर कर राम को प्रणाम कर बोले, 'आपके अनुज के प्रति मेरी कन्या का पहले से ही अनुराग था। इसलिए मैंने लक्ष्मण को इसके पतिरूप में सोच रखा था। मेरे भाग्य से ही आज इनका मिलन हुआ है। लक्ष्मण-सा जँवाई और आपके जैसा कुटम्ब पाना दुर्लभ है। तदुपरान्त वे राम, लक्ष्मण और सीता को अपने प्रासाद में ले आए।

वे जब वहाँ निवास कर रहे थे तभी एक दिन राजा महीधर की सभा में राजा अतिवीर्य का दूत आया। वह बोला, 'नन्दावर्त के राजा अतिवीर्य, जो शौर्य के सागर हैं, राजा भरत के साथ युद्ध छिड़ने के कारण आपको सहायता के लिए बुलवाया है। दशरथ पुत्र भरत की सेना में अनेक राजा आए हैं। इसीलिए महापराक्रमी आपको उन्होंने स्मरण किया है।' तब लक्ष्मण ने पूछा, 'नन्दावर्त के राजा अतिवीर्य के साथ भरत का युद्ध क्यों छिड़ गया है?' प्रत्युत्तर में दूत बोला, 'मेरे स्वामी भरत की सेवा चाहते हैं किन्तु भरत ने वह स्वीकार नहीं किया। उनके विरोध और युद्ध का यही कारण है।' तब राम ने पूछा, 'भरत क्या अतिवीर्य से युद्ध करने का सामर्थ्य रखते हैं जो वे अतिवीर्य की सेवा करने से इन्कार कर रहे हैं?' दूत ने कहा, 'अतिवीर्य अत्यन्त बलवान है किन्तु भरत भी उनसे किसी अंश में कम नहीं हैं। इसलिए कहा नहीं जा सकता युद्ध में किसकी विजय होगी?'

महीधर ने दूत को यही कहकर बिदा कर दिया 'मैं शीघ्र आ रहा हूँ।'

फिर महीधर ने राम से कहा, 'अल्पबुद्धि अतिवीर्य कितना अज्ञानी है जो मुझे भरत के साथ युद्ध करने को बुला रहा है। मैं एक वृहद् सेना लेकर वहाँ जाऊँगा और जाकर भरत से मित्रता व उसके साथ वैर है यह कुछ बिना कहे ही मानों मैं भरत की आज्ञा से ही उसकी हत्या कर रहा हूँ उसे मार डालूँगा।' राम बोले, 'राजन्, आप यहीं रहें। मैं आपकी सेना और पुत्रों के साथ जाऊँगा और जो यथोचित होगा वही करूँगा। महीधर के यह बात स्वीकार कर लेने पर राम लक्ष्मण सीता सहित महीधर के पुत्रों और सेना को लेकर नन्दावर्त आ पहुँचे।

उसी नगर के बाहर एक उद्यान में राम ने सेना का स्कन्धावार स्थापित किया। उस स्थान की अधिष्ठायिका देवी राम के सन्मुख आकर बोली, 'हे महाभाग, आपकी जो इच्छा हो बताएँ? मैं उसी के अनुरूप कार्य करने को प्रस्तुत हूँ।' राम ने कहा, 'मेरे लिए कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।' तब वह देवी बोली, 'यद्यपि आप स्वयं ही सब कुछ कर सकते हैं फिर भी मैं आपका एक उपकार करूँगी। लोगों में अतिवीर्य की अपकीर्ति करने के लिए कि वह स्त्रियों द्वारा पराजित हुआ आप लोगों को सैन्य सहित स्त्री रूप में परिवर्तित कर दूंगी।' ऐसा कहकर उस देवी ने स्त्री राज्य की तरह महीधर की सेना को स्त्री रूप में बदल दिया। राम और लक्ष्मण भी सुन्दरी स्त्री रूप में परिवर्तित हो गए। तब राम ने द्वारपाल द्वारा अतिवीर्य को कहला भेजा, 'राजा महीधर ने आपकी सहायता के लिए यह सैन्यदल भेजा है।' यह सुनकर अतिवीर्य बोला, 'जब मरणेच्छुक महीधर स्वयं नहीं आया तब मुझे उसकी सेना की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं अकेला ही भरत को पराजित कर दूँगा। अतः अपकीर्ति करने वाली इस सेना को तुरन्त यहाँ से विताड़ित करो।'

उसी समय एक व्यक्ति बोल उठा, 'देव, महीधर स्वयं नहीं आया सो तो ठीक है, किन्तु उसने आपको लज्जित करने के लिए जिस सैन्यदल को भेजा है वह स्त्री-सेना है।' यह सुनकर तो अतिवीर्य अत्यन्त कुपित हो उठा और द्वार पर उपस्थित राम और उसकी सेना के लिए आदेश दिया, 'क्रीतदासियों की तरह उन्हें गर्दन पकड़कर नगर से बाहर निकाल दो।'

यह सुनकर अतिवीर्य के महापराक्रमी सामन्तों ने उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए स्त्री सेना में उपद्रव मचा दिया। यह देखकर लक्ष्मण आलान स्तम्भ को उखाड़ कर उसे ही अस्त्र के रूप में प्रयोग कर सामन्तों को धरा-

शायी करने लगे। सामन्तों को धराशायी होते देखकर अतिवीर्य और क्रुद्ध हो उठा और हाथ में खड्ग लेकर युद्ध के लिए जैसे ही आगे बढ़ा लक्ष्मण ने उसके हाथ से खड्ग छीन लिया और उसके केश पकड़ कर जमीन पर पटक दिया और उसी के वस्त्रों से उसे बाँध दिया। तदुपरान्त हरिण को जैसे सिंह पकड़कर ले जाता है उसी प्रकार वे नरसिंह लक्ष्मण उसे पकड़कर ले चले। भयभीत नगर-जन त्रस्त दृष्टि से यह दृश्य देखने लगे। दयावश सीता ने उसे छुड़वाया। लक्ष्मण ने उसे यह स्वीकार करवा के छोड़ दिया कि वह भरत की सेवा करेगा।

तब देवी ने उनका स्त्री रूप समाप्त कर दिया। अतः अतिवीर्य राम और लक्ष्मण को पहचान गए। और उनकी खूब सेवा की। अब अभिमानी अतिवीर्य को अपने मान की बात स्मरण हो आयी। मान को आघात लगने से उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। मैं अन्य का सेवक बनूँगा? इसी अहंकार के कारण उन्होंने दीक्षा लेना स्थिर कर उसी समय अपने पुत्र विजयरथ को राज्य दे दिया। यह देख राम ने कहा, 'तुम तो मेरे द्वितीय भरत हो। सुख पूर्वक राज्य करो, दीक्षा मत लो', फिर भी महामानी अतिवीर्य ने दीक्षा ग्रहण कर ली। उनके पुत्र विजयरथ ने अपनी बहिन रतिमाला लक्ष्मण को दी। लक्ष्मण ने उसे ग्रहण कर लिया।

तब राम अपनी सेना लेकर पुनः विजयपुर लौट गए। विजयरथ भी भरत की सेवा करने के लिए अयोध्या चले गए। गौरव के गिरितुल्य भरत ने सारी बात सुनकर आगत विजयरथ का सत्कार किया। सत्पुरुष भक्त-वत्सल होते ही हैं। विजयरथ अपनी छोटी बहिन विजयमाला को जो कि रतिमाला से छोटी थी भरत को दी। उसी समय प्रव्रजन करते हुए अतिवीर्य मुनि अयोध्या पहुँचे। यह संवाद पाकर अनेक राजाओं के साथ भरत उनका स्वागत करने गये और वन्दना कर क्षमा प्रार्थना की। सम्मानपूर्वक भरत द्वारा विदा दे देने के पश्चात विजयरथ भी आनन्दमना बनें अपने राज्य नन्दावर्तपुर को लौट गए।

[क्रमशः

LODHA MOTORS

A House of Telco Genuine Spare Parts and Govt. Order Suppliers, Also Authorised Dealers of Pace-setter and Nicco Batteries in Nagaland State.

GOLAGHAT ROAD, DIMAPUR
NAGALAND

Phone : 3039, 3174

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality Woollen Yarn, Carpet Yarn and Superior Quality Handknotted Carpets

Factory and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phone : Off. 3204
Res. 3356

Main Office :
4 Meer Bohar Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 30-2071

Branch Office :
Peerkhanpur : Bhadhoi
Phone : 5378
5578,5778

WB/NC-330

Vol. XVI No. 7 **TITTHAYARA** **November 1992**

Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

आ. कै. सा.
कोबा

बनारसी साड़ी

इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२